१३

विश्वकल्याण का चिरंतन-पथ : सेवा का पथ

संसार के सभी विचारकों ने मनुष्य को एक महान् शक्ति के रूप में देखा है। मानव की आत्मा महान् आत्मा है, अनन्त-अनन्त शक्तियों का स्रोत छिपा है उसमें। अणु से विराट् बनने का पराक्रम है उसके पास। भगवान् महावीर ने बताया है कि—मनुष्य का जीवन साधारण चीज नहीं है, यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है विश्व की। संसार की समस्त योनियों में आत्मा भटकती-भटकती जब कुछ विशुद्ध होती है, अशुभ कर्मों का भार कुछ कम होता है, तब वह मनुष्य की योनि में आती है—

"जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं।"

कर्म के आवरण जब धीरे-धीरे हटते हैं, तो दिव्य प्रकाश फैलता है, जीवन की यात्रा कुछ आगे बढ़ती है। आत्मा पर लगा हुआ मैल ज्यों-ज्यों साफ होता है, त्यों-त्यों वह धीरे-धीरे विशुद्ध होती जाती है। अर्थात् जब कुछ प्रकाश फैलता है, कुछ शुद्धि प्राप्त होती है, तब आत्मा मनुष्य की योनि में जन्म धारण करती है। मानव जीवन की महत्ता का यह आध्यात्मिक पक्ष है।

सिर्फ जैन दर्शन ही नहीं, बल्कि भारतवर्ष का प्रत्येक दर्शन और प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय इस विचार पर एकमत है कि मानव जीवन पवित्रता के आधार पर चलता है। मानव की चेतना पवित्रता की जितनी उच्च भूमि पर पहुँची हुई होती है, उसका विकास उतना ही उत्कृष्ट होता है। उस पवित्रता को यदि हम कायम रख सके, तो हम मानव रह सकते हैं। यदि उसको उर्ध्वगामी बनाने का प्रयत्न करते हुए आगे बढ़ते हैं, तो मानव से महामानव और आत्मा से परमात्मा के पद तक पहुँच सकते हैं।

मानव, जीवन के एक ऐसे चौराहे पर खड़ा है, जहाँ चारों ओर से आने वाले रास्ते मिलते हैं और चारों ओर जाने वाले भी। यदि वह बढ़ना चाहे, तो पवित्रता के पथ से उस ओर भी बढ़ सकता है, जिधर अनन्त प्रकाश और अनन्त सुख का अक्षय खजाना है, वह अपने जीवन को स्वच्छ एवं निर्मल बनाकर परम पवित्र बन सकता है, नर से नारायण बन सकता है, जन से जिन की भूमिका पर जा सकता है, अविद्या से मुक्त होकर बुद्ध का पद प्राप्त कर सकता है और आत्मा से परमात्मा की संज्ञा पा सकता है।

यदि वह इस पवित्रता के मार्ग से हटकर संसार के भौतिक मार्ग पर बढ़ चले, तो वहाँ पर भी अपार वैभव एवं ऐश्वर्य के द्वार खोल सकता है। प्रकृति के कण-कण को अपने सुख-भोग के लिए इस्तेमाल कर सकता है, उन पर नियन्त्रण कर सकता है, और जीवन की अभीष्ट सुख-सुविधाओं को प्राप्त कर सकता है।

किन्तु, इसके विपरीत भी स्थिति हो सकती है। यदि मानव, विकास की ओर न बढ़ कर विनाश की ओर मुड़ जाता है, तो उसका भयंकर-से-भयंकर पतन भी हो सकता है। पशुयोनि एवं नरक जीवन की घोर यंत्रणाएँ भी उसे भोगनी पड़ सकती है। हर प्रकार से वह दीन, हीन, दुःखी और दलित हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे इस प्रसंग पर एक बात याद आ रही है। एक बार जोधपुर के राजा मानसिंहजी एक दिन अपने पर्वतीय किले की ऊँची बुर्ज पर बैठे थे, पास में राज-पुरोहित भी थे। दोनों दूर-दूर तक के दृश्य निहार रहे थे। राजा ने नीचे देखा, तो बहुत ही भयानक अन्ध-गर्त की तरह तलहटी दीखने लगी। राजा ने मजाक में पूछा—"पुरोहित जी! अगर मैं यहाँ से गिर जाऊँ तो मेरा धमाका कितनी दूर तक सुनाई देगा, और यदि आप गिर जाएँ, तो आपका धमाका कितनी दूर जाएगा!"

पुरोहित ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज! भगवान् न करें, ऐसा कभी हो। किन्तु, बात यह है कि यदि मैं गिर जाऊँ, तो मेरा धमाका क्या होगा! ज्यादा-से-ज्यादा मेरी हवेली तक सुनाई देगा। बाल-बच्चे अनाथ हो जाएँगे बस, वहाँ तक ही रोना-चीखना और शोरगुल हो पाएगा, आगे कुछ नहीं। परन्तु, यदि आप गिर गए, तो उसका धमाका तो पूरे देश में सुनाई देगा। रियासत अनाथ हो जाएगी, देश भर में शोक और दुःख छा जाएगा।"

इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है—मनुष्य जितनी ऊँचाई पर चढ़ता है, उसकी गिरावट उतनी ही भयंकर होती है। यदि ऊपर-ही-ऊपर चढ़ता जाता है, तो परम पवित्र स्थिति में—जिसे हम मोक्ष कहते हैं, पहुँच जाता है। और, यदि गिरना शुरू होता है, तो गिरता-गिरता पतित-से-पतित दशा में पहुँच जाता है, घोरातिघोर सातवीं नरक तक भी चला जाता है।

मनुष्य का जीवन एक क्षुद्र कुआँ या तलैया नहीं है, वह एक महासागर की तरह विशाल और व्यापक है। मनुष्य समाज में अकेला नहीं है, परिवार उसके साथ है, समाज से उसका सम्बन्ध है, देश का वह एक नागरिक है, और इस पूरी मानव-सृष्टि एवं प्राणि-जगत् का वह एक सदस्य है। उसकी हलचल का, क्रिया-प्रतिक्रिया का असर सिर्फ उसके जीवन में ही नहीं, पूरी मानव जाति और समूचे प्राणिजगत् पर होता है। इसलिए उसका जीवन व्यष्टिगत नहीं, बल्कि समष्टिगत है।

जितने भी शास्त्र हैं—चाहे वे भगवान् महावीर के कहे हुए आगम हैं, या बुद्ध के कहे हुए पिटक हैं, या वेद-उपनिषद्, कुरान, बाईबिल हैं, आखिर वे किसके लिए हैं?

क्या पशु-पक्षियों को उपदेश सुनाने के लिए हैं? क्या कीड़े-मकोड़ों को सद्बोध देने के लिए हैं? नरक के जीवों के लिए भी नहीं हैं। नारक जीवों की कहाँ भूमिका है उपदेश पाने की? वे विचारे तो रात-दिन यातनाओं से तड़प रहे हैं, हाहाकार कर रहे हैं। और स्वर्ग के देवों के लिए भी तो उनका क्या उपयोग है? कहाँ है उन देवताओं को फुर्सत, और फुर्सत भी है, तो उपदेश सुनकर ग्रहण करने की योग्यता कहाँ है उनमें? रात-दिन भोग-विलास और ऐश्वर्य में डूबे रहने के कारण देवता भी अपने आप को इन्द्रियों की दासता से मुक्त नहीं कर सकते। तो, आखिर ये सब किसके लिए बने हैं। मनुष्य के लिए ही तो! मानव की आत्मा को प्रबुद्ध करने के लिए ही तो, सब शास्त्रों ने वह ज्योति जलाई है, वह उद्घोष किया है, जिसे देख और सुनकर उस का सुप्त ईश्वरत्व जाग सके।

दुःख का कारण :

संसार में जितने भी कष्ट हैं, संकट और आपत्तियाँ हैं, उलझनें और संघर्ष हैं, उनकी गहराई में जा कर यदि हम ठीक-ठीक विश्लेषण करें, तो यही पता चलेगा कि जीवन में जो भी दुःख हैं वे पूर्णतः मानवीय हैं, मनुष्य के द्वारा मनुष्य पर लादे गए हैं। हमारे जो पारस्परिक संघर्ष हैं, उनके मूल में हमारा वैयक्तिक स्वार्थ निहित होता है, जब स्वार्थ टकराता है, तो संघर्ष की चिनगारियाँ उछलने लगती हैं। जब प्रलोभन या अहंकार पर चोट पड़ती है, तो वह फुंकार उठता है, परस्पर वैमनस्य और विद्वेष भड़क उठता है। इस प्रकार एक व्यक्ति से दूसरा व्यक्ति, एक समाज से दूसरा समाज, एक सम्प्रदाय से दूसरा सम्प्रदाय और एक राष्ट्र से दूसरा राष्ट्र अपने स्वार्थ और अहंकार के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए परस्पर लड़ पड़ते हैं, एक-दूसरे के मार्ग में काँटे बिखेरते हैं, एक-दूसरे की प्रगति का रास्ता रोकने का प्रयत्न करते हैं और परिणामस्वरूप संघर्ष, आपत्तियाँ और विग्रह खड़े हो जाते हैं। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तबाह हो जाते हैं। आप देखते हैं कि संसार में जो महायुद्ध हुए हैं, नर संहार हुए हैं, और अभी जो चल रहे हैं, वे प्राकृतिक हैं, या मानवीय? स्पष्ट है, प्रकृति ने उन युद्धों की आग नहीं सुलगाई है, अपितु मनुष्य ने ही वह आग लगाई है। मनुष्य की लगाई हुई आग में आज मनुष्य जाति नष्ट हो रही है, परेशान और संकटग्रस्त बन रही है।

अहिंसा-करुणा का जीवन में स्थान :

जैन-दर्शन कहता है, और हमारे पड़ोसी अन्य दर्शन भी कहते हैं कि जीवन में संघर्षों का मूल ढूँढ़ो! और, उसका निराकरण करो। जैसा कि हमने ऊपर विचार किया है, संघर्ष का मूल, हमें मिलता है—स्वार्थ और अहंकार में। किन्तु, मनुष्य का जीवन स्वार्थों और अहंकारों की दहकती आग पर नहीं चल सकता, बल्कि उसका विकास करुणा और अहिंसा की शीतल धरती पर ही हो सकता है।

अहिंसा की एक धारा करुणा भी है, जिसे हम समझने की भाषा में स्नेह तथा प्रेम भी कह सकते हैं। उसी के आधार पर मनुष्य का पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन टिका हुआ है। जीवन में पति-पत्नी एक भूमिका पर स्थित हुए हैं, एक-दूसरे के जीवन में सहयोगी बन कर चल रहे हैं, सुख-दुःख को परस्पर बाँट कर चल रहे हैं। इस प्रकार सेवा, समर्पण के आधार पर उनका जीवन-चक्र जो चल रहा है, उसके मूल में क्या है? हृदय की भावना-प्रधान रागात्मक करुणा। राग है, स्नेह है पर वह किसका परिणाम है? आखिर अहिंसा की सामाजिक-धारा ही तो उनके अन्तर्-जीवन में बह रही है। वही धारा तो उन्हें एक-दूसरे के दायित्वरूप भार को वहन करने में सक्षम बना रही है। माता-पुत्र के जो सम्बन्ध हैं, बहन-भाई के जो बन्धन हैं, वे आखिर क्या हैं? कोई आकस्मिक तो नहीं हैं, संयोग मात्र तो नहीं हैं? वस्तुतः जीवन में संयोग जैसी कोई बात ही नहीं होती है, जो होता है, उसका बीज संस्काररूप में बहुत पुराना, जन्म-जन्मान्तर से चला आता है। ये जो सम्बन्ध हैं, परस्पर राग के सम्बन्ध हैं, स्नेह के सम्बन्ध हैं, किन्तु उनमें जो त्याग और बलिदान की भावना चल रही है, सहिष्णुता और समर्पण के जो बीज हैं, कोमलता और करुणा का जो भाव है, वह एक तात्त्विक वृत्ति है, अहिंसा की ही एक भावना है, भले ही वह राग का आधार लेकर फूटी हो, स्नेह का सहारा पाकर विकसित हुई हो, कोई अंतर नहीं। इसलिए जीवन के जो भी सम्बन्ध हैं, वे सब रागात्मक करुणा के आधार पर ही चल सकते हैं। एक-दूसरे से सापेक्ष, एक-दूसरे के हितों से चिन्तित, यही तो मनुष्य का सामाजिक स्वरूप है।

वैराग्य का सही मार्ग :

यह जो कहा जाता है कि सब बन्धन तोड़ डालो, सब सम्बन्ध झूठे हैं, स्वार्थ के हैं, इसमें कुछ सत्य अवश्य है, किन्तु वह सत्य जीवन का निर्माणकारी अंग नहीं है। वैराग्य की यह उथली भावना जीवन को जोड़ती नहीं है, अपितु उसको टुकड़े-टुकड़े करके रख देती है। इस भावना ने संसार का लाभ उतना नहीं किया, जितना कि ह्रास किया है। वैराग्य तो चाहिए, पर कैसा वैराग्य? यह वैराग्य नहीं कि कौन किसका है? कोई मरे, तो हमें क्या। संसार तो जन्म-मरण का ही नाम है, हम किस-किस की फिकर करें? यह वैराग्य, मुर्दा वैराग्य है। मानव को मुर्दा वैराग्य नहीं, जीवित वैराग्य चाहिए, जीवन में विश्वास और आस्था पैदा करने वाला वैराग्य चाहिए। धन, संपत्ति नश्वर है, तो फिर उसका उपयोग किसी दीन-दुःखी का दर्द मिटाने के लिए किया जाए! जीवन क्षणिक है, तो उसे किसी की सेवा के लिए अर्पण कर दिया जाए। हमारे वैराग्य में यह मोड़ आए, तब तो वह जीवनदायी है, अन्यथा नहीं। मैं तो यह कहता हूँ कि जीवन में जबतक वैराग्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अंकुर नहीं फूटेंगे, तब-तक मनुष्य अपने बहुमूल्य साधन एवं जीवन को किसी के लिए अर्पित करे भी, तो कैसे करेगा? अपना प्रेम कैसे लुटाएगा? बिना वैराग्य के त्याग और बलिदान की भावना नहीं जगेगी, और उसके बिना मनुष्य में उदारता का भाव कैसे पैदा होगा? जबतक हमें अपने जीवन का मोह है, वैयक्तिक सुख-भोग की लालसा है, तबतक हम अपने जीवन को, अपनी सुख-सुविधाओं को किसी दूसरे जीवन के लिए, धर्म और समाज के लिए, देश और राष्ट्र के लिए बलिदान करने को तैयार नहीं हो सकते।

शास्त्र में कहा है—जो व्यक्ति और कुछ भी तत्त्वज्ञान नहीं जानता, विशेष सत्कर्म भी नहीं करता, किन्तु सिर्फ माँ-बाप की सेवा करता है, निष्ठा और भक्तिपूर्वक उनके सुखों के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर देता है, तो उस सेवा के प्रभाव से ही उसके लिए स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं। इसी प्रकार पति-पत्नी यदि जीवन में कृतज्ञता की भावना से चलते हैं, तो वे भी जीवन-विकास के उच्च आरोहण में अग्रसर होते हैं, अपने ध्येय की ओर गतिशील होते हैं।

जीवन में यह जो सामाजिक सेवा और समर्पण की स्वर्ण-मुद्रा है, यदि साधना के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य नहीं होता, तो फिर उससे स्वर्ग के द्वार खुलने की बात क्यों कही जाती? यदि वह पाप ही है, तो उससे नरक के द्वार खुलते, स्वर्ग के नहीं। जब प्राचीन ऋषि-मुनियों ने उस सेवा को कुछ महत्त्व दिया है, तो उसका आधार वैराग्य और करुणा ही हो सकता है, स्वार्थ या अहंकार नहीं। माना कि वह एक रागात्मक भूमिका है, पर इतने मात्र से क्या वह पाप हो गया? उस राग के साथ यदि त्याग और उदारता का भाव नहीं जगा होता, तो मनुष्य किसी अभाव-ग्रस्त दूसरे व्यक्ति के लिए अपने आपको, अपने सुखों को निछावर करने के लिए कभी भी तैयार नहीं होता।

सेवा : तप से भी महान् :

चिन्तन की गहराई में उतरने पर आप जान सकते हैं कि जीवन के जितने भी पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्ध हैं, वे सब मानवीय हृदय के आधार पर टिके हुए हैं, करुणा और स्नेह के बल पर वे चलते हैं। उनमें उदारता और सहिष्णुता का भाव भरा रहता है। उक्त सम्बन्धों पर यदि दार्शनिक दृष्टि से विचार करें, तो राग का प्रश्न भी हल हो सकता है। सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों में जो रागात्मक अंश है, यदि उसे निकाल दें, स्वार्थ का जितना भाव है, उसे त्याग दें, और जो भी सत्प्रयत्न एवं सत्कर्म किया जाए, वह मात्र निष्काम भाव से किया जाए, किसी भी प्रकार के स्वार्थ या प्रतिफल की आकांक्षा के बिना केवल कर्तव्य के नाते किया जाए, तो वह सत्कर्म हमारे जीवन के बन्धनों को तोड़ कर मुक्ति के द्वार भी खोल सकता है। यह वह स्थिति है, जहाँ जीवन की आध्यात्मिक पवित्रता के सम्पूर्ण दर्शन हो सकते हैं।

जीवन में यदि वैयक्तिक स्वार्थों के द्वन्द्व से मुक्त होकर एक भी सद्गुण को निष्ठापूर्वक विकसित किया जाए, तो वह भी मनुष्य को महान् बना देता है। और, जहाँ अनेक सद्गुण जीवन में विकास पाते हैं, जीवन के मलों को धोकर उसे परम पवित्र बनाते हैं, वहाँ तो मुक्ति के द्वार, अनन्त सुख के द्वार, मनुष्य के सामने स्वतः ही खुल जाते हैं।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जीवन में जो रागात्मक अंश है, उसे समाप्त करने का अर्थ इतना ही है कि हम अपने स्वार्थ या लाभ की कामना से दूर हट कर निष्काम भाव से कर्म करें। किन्तु, फिर भी उसमें मानवीय सहज स्नेह का निर्मल अंश तो रहता ही है। यदि यह स्नेह न हो, तो मानव, मानव ही नहीं रहता, पशु से भी निकृष्ट बन जाता। यह स्नेह ही मानव को परस्पर सहयोग, समर्पण और सेवा के उच्चतम आदर्श की ओर प्रेरित करता है। व्यक्तिगत जीवन से समष्टिगत जीवन की व्यापक महानता की ओर अग्रसर करता है।

जैन-साधना में व्यक्तिगत जीवन की साधना से भी अधिक महत्त्व सामाजिक साधना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का है। सामाजिक साधना से मेरा मतलब है—निष्काम भाव से जन-सेवा। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने तो यहाँ तक कहा है कि—एक व्यक्ति तप करता है, कठोर एवं लम्बे तप के द्वारा अपने को तपा रहा है। इसी बीच कहीं अन्यत्र आवश्यकता हुई सेवा करने की, तो वह अब क्या करे? प्राथमिकता किसे दी जाए, सेवा को या तप को? यदि वह इतना समर्थ है कि किसी वृद्ध या रोगी आदि की सेवा करता हुआ भी अपना तप चालू रख सकता हो, तब तो तप भी चालू रखे और सेवा भी करे। और यदि दोनों काम एक साथ चालू रखने में समर्थ न हो, तो फिर तप छोड़ कर सेवा करे। उपवास आदि तप को गौण किया जा सकता है, परन्तु सेवा को गौण नहीं किया जा सकता।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि उपवास, जो कि हमारा आध्यात्मिक प्राण है, यदि उसे तोड़ते हैं, तो पाप लगना चाहिए? इसके उत्तर में आचार्य जिनदास, आचार्य सिद्धसेन आदि, जिनका कि चिन्तन जितना गहरा था, उतना ही उन्मुक्त भी था, जो सत्य उन्होंने समझ लिया, उसे व्यक्त करने में कभी आगा-पीछा नहीं किया, वे कहते हैं कि उपवास करने से जितनी शुद्धि और पवित्रता होती है, उससे भी अधिक शुद्धि-पवित्रता सेवा में होती है। उपवास तुम्हारी व्यक्तिगत साधना है, उसका लाभ सिर्फ तुम्हारे तक ही सीमित है, परन्तु सेवा एक विराट् साधना है। सेवा दूसरों के जीवन को भी प्रभावित करती है। जिस व्यक्ति की जीवन-नौका सेवा के बिना डगमगा रही है, विचलित हो रही है, जिसकी भावना चंचल हो रही है, धर्म-साधना गड़बड़ा रही है, सेवा उसे सहारा देती है, साधना में स्थिर बनाती है। इस प्रकार एक बुझता हुआ दीपक फिर से जगमगा उठता है, सेवा का स्नेह पाकर। दीप-से-दीप जलाने का यह पवित्र कार्य सेवा के माध्यम से ही बन पड़ता है। एक आत्मा को जागृत करना और उसमें आनन्द की लौ जगा देना, कितनी उच्च साधना है, और यह साधना सेवा के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। इसलिए जो आनन्द और पवित्रता सेवा के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है, वह तप के द्वारा नहीं। जब तप करने के लिए तैयार हो तो पहले साधक को यह देखना है कि किसी को मेरी सेवा की तो आवश्यकता नहीं? वह तप की प्रतिज्ञा करते समय भी मन में यह संकल्प रखता है कि यदि मेरी सेवा की कहीं आवश्यकता हुई तो मैं तप को बीच में छोड़कर सेवा को प्राथमिकता दूँगा। सेवा मेरा पहला धर्म होगा।

सेवा : सच्ची आराधना है :

जैन-धर्म ने जीवनोपयोगी इन्हीं सूक्ष्म बातों पर विचार किया है और गम्भीर विचार के बाद यह उपदेश दिया है कि सेवा उपवास आदि तप से भी बढ़कर महान् धर्म है, प्रमुख कर्तव्य है। भगवान् महावीर ने कहा है—उपवास आदि बहिरंग तप है, और सेवा अन्तरंग तप है। बहिरंग से अन्तरंग श्रेष्ठ है, बन्धन मुक्ति का साक्षात् हेतु अन्तरंग है, बहिरंग नहीं।

सेवा के सम्बन्ध में एक बहुत गम्भीर प्रश्न जैन-शास्त्रों में उठाया गया है। गणधर गौतम एक बार भगवान् महावीर से पूछते हैं—"प्रभु एक व्यक्ति आपकी सेवा करता है, आपका ही भजन करता है, उसकी साधना के प्रत्येक मोड़ पर आपका ही रूप खड़ा है, आपकी सेवा, दर्शन, भजन, ध्यान के सिवा उसे जन-सेवा आदि अन्य किसी भी कार्य के लिए अवकाश ही नहीं मिलता है।

दूसरा, एक साधक वह है, जो दीन-दुखियों की सेवा में लगा है, रोगी और वृद्धों की संभाल करने में ही जुटा है, वह आपकी सेवा-स्मरण और पूजन के लिए अवकाश तक नहीं पाता, रात-दिन जब देखो, बस उसके सामने एक ही काम है—जन-सेवा! तो प्रभु! इन दोनों में कौन धन्य है? कौन धन्यवादार्ह है?

महाप्रभु ने कहा—"गौतम! जो वृद्ध, रोगी और पीड़ितों की सेवा करता है, मैं उसे ही धन्यवाद का पात्र मानता हूँ।"[1]

---

१. जे गिलाणं पडियरई से धन्ने।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गौतम का मन अचकचाया, इस सत्य को कैसे स्वीकार करे? पूछा—"प्रभु! यह कैसे हो सकता है, कहाँ आप जैसे महान् धर्मावतार की सेवा, दर्शन और स्मरण? और कहाँ वह संसार का दुःखी, दीन-हीन प्राणी, जो अपने कृत-कर्मों का फल भोग रहा है? फिर आपकी सेवा से बढ़कर उसकी सेवा महान् कैसे हो सकती है? वह धन्य किस दृष्टि से है?"

भगवान् ने उक्त प्रतिप्रश्न का जो प्रत्युत्तर दिया, वह इतिहास के पृष्ठों पर आज भी महान् ज्योति की तरह जगमगा रहा है। उन्होंने कहा—"गौतम! समझते हो, भगवान् की उपासना क्या चीज है? भगवान् की देह की पूजा करना, देह के दर्शन करना मात्र उपासना नहीं है। सच्ची उपासना है, उनके आदेश एवं उपदेश का पालन करना।"[१] भगवान् की आज्ञा की आराधना करना ही भगवान् की आराधना है। उनके सद्गुणों को, सेवा, करुणा और सहिष्णुता के आदर्शों को जीवन में उतारना, यही सबसे बड़ी सेवा है। आत्माएँ सब समान हैं। जैसा चैतन्य एक दीन-दुःखी में है, वैसा ही चैतन्य मुझ में है। प्रत्येक चैतन्य दुःख-दर्द में घबराता है, सुख चाहता है, इसलिए उस चैतन्य को सुख पहुँचाना, आनन्द और प्रकाश की लौ जगाकर उसे प्रफुल्लित कर देना, यही मेरा उपदेश है। इस उपदेश का, जो भी पालन करता है, वह मेरी ही उपासना करता है, अतः वही धन्यवाद का योग्य पात्र है।

किन्तु, आज जब मानव के व्यावहारिक जीवन पर दृष्टिपात् करता हूँ, तो कुछ और ही पाता हूँ। वहाँ भगवान् के उक्त उपदेश का विपरीत प्रतिफलन ही देखा जा रहा है। मैं पूछता हूँ, भगवान् के नाम पर बाहरी ऐश्वर्य का अम्बार तो आपने लगा दिया, भगवान् को चारों ओर सोने से मढ़ दिया है। कहना चाहिए, एक तरह से सोने के नीचे दबा दिया है। मन्दिरों के कलशों पर सोना चमक रहा है। पर, कभी यह भी देखा है आपने कि यह आपके अन्तर्मन के कलश का सोना, काला पड़ रहा है या चमक रहा है, मन दरिद्र बना हुआ है या ऐश्वर्यशाली है? यह आडम्बर किसके लिए है? भगवान् की पूजा और महिमा के लिए या अपनी पूजा-महिमा के लिए? जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, यह सब अपने अहंकार को तृप्त करने के ही साधन बन रहे हैं। व्यक्ति के अपने अहंकार-पोषण हो रहे हैं, इन आडम्बरों के द्वारा और इतना ही नहीं, दूसरों के अहं को ललकारने के माध्यम भी बनते हैं, ये मर्यादाहीन प्रदर्शन!

एक ओर तो हम कहते हैं—"**अप्पा सो परमप्पा**" आत्मा ही परमात्मा है। "**यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे**" जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। ईश्वर का, भगवान् का प्रतिबिम्ब प्रत्येक आत्मा में पड़ रहा है। हमारे धर्म एक ओर प्रत्येक प्राणी में भगवान् का रूप देखने की बात करते हैं। परन्तु दूसरी ओर अन्य प्राणी की बात तो छोड़ दीजिए, सृष्टि का महान् प्राणी—मनुष्य जो हमारा ही जाति-भाई है, वह भूख से तड़प रहा है। चैतन्य भगवान् छटपटा रहा है और हम मूर्ति के भगवान् पर दूध और मिश्री-मक्खन का भोग लगा रहे हैं, मेवा-मिष्टान्न चढ़ा रहे हैं। यह मैं पूर्वाग्रहवश किसी विशेष पूजा-पद्धति एवं परम्परा की आलोचना नहीं कर रहा हूँ। किसी पर आक्षेप करना न मेरी प्रकृति है और न मेरा सिद्धान्त। मैं तो साधक के अन्तर में विवेक जागृत करना चाहता हूँ और चाहता हूँ, उसे अतिरेक से बचाना। कभी-कभी भक्ति का विवेक शून्य अतिरेक भक्ति-सिद्धान्त की मूल भावना को ही नष्ट कर डालता है और इस प्रकार की उपासना कभी-कभी एक बिडम्बना मात्र बन कर रह जाती है।

भारतीय चिन्तन सदा से यह पुकार रहा है कि भक्त ही भगवान् है। भगवान् की विराट् चेतना का छोटा संस्करण ही भक्त है। बिन्दु और सिन्धु का अन्तर है। बिन्दु बिन्दु है जरूर, पर उसमें सिन्धु समाया हुआ है। यदि बिन्दु ही नहीं है, तो फिर सिन्धु

१. आणाराहणं दंसणं खु जिणाणं
—उत्तराध्ययन, अ. २, कमल संयमी वृत्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहाँ से आएगा ? सिन्धु की पूजा करने का मतलब है, पहले बिन्दु की पूजा की जाए ! माला फेरने या जप करने मात्र से उसकी पूजा नहीं हो जाती, बल्कि बिन्दु में जो उसकी विराट् चेतना का प्रतिबिम्ब है, उसकी पूजा-सेवा करने से ही उसकी (प्रभु की) पूजा-सेवा हो सकती है। अतः भगवान् को मन्दिरों में ही नहीं, अपने अन्दर में भी देखना है। जीवन में देखना है, जन-जीवन में देखना है, जनार्दन की सेवा को जन-सेवा में बदलना है।

देश में आज कहीं दुर्भिक्ष की स्थिति चल रही है, दुष्काल की काली घटा छाई हुई दीख रही है, कहीं बाढ़ और तूफान उफन रहे हैं, तो कहीं महँगाई आसमान छू रही है। पर सच बात तो यह है कि अन्न की महँगाई उतनी नहीं बढ़ी है, जितनी महँगाई सद्-भावनाओं की हो गई है। आज सद्भाव, प्रेम और सेवा-भाव महँगा हो रहा है। एक-दूसरे की हितचिंता महँगी हो रही है। इन्हीं चीजों का दुष्काल अधिक हो रहा है। स्वार्थ, अहंकार आज खुल कर खेल रहे हैं। और जीवन में, परिवार में, समाज और देश में नित नए संकट के शूल बिछाए जा रहे हैं। मैंने जो आपको पहले बताया है कि यह मानव जीवन सुखों की महान्तम ऊँचाई पर भी पहुँच सकता है, और दुःखों के गहन गर्त में भी जाकर गिर सकता है। उसके सुख-दुःख स्वयं उसी पर निर्भर हैं। जब वह अपने अन्तर में से स्वार्थ और अहंकार को बाहर निकालकर अपने अंदर सेवा की भावना भरकर कार्य करना आरम्भ कर देता है, तब निश्चय ही विश्वकल्याण का पावन पथ प्रशस्त हो सकता है। और, यही आज के संघर्षरत एवं समस्याग्रस्त विश्व-कल्याण का सहज-सुलभ मार्ग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org